# साहित्यकारों का नाटक या नाटककारों का साहित्य

विचार और साहित्य एक दूसरे के पूरक होते है। विचार आत्मा है और साहित्य शरीर। विचार अपंग होता है तो साहित्य अन्धा। विचार बीज है तो साहित्य हवा, पानी, खाद, दवा और अंत में वृक्ष। यदि साहित्य और विचार को एक दूसरे का सहारा न मिले तो अलग–अलग रहकर दोनों अपना महत्व खो देते है।

दोनों के गुण भी बिल्कुल अलग–अलग होते है और प्रभाव भी। विचार मख्खन रूपी तत्व होता है तो साहित्य मठा। विचार कठिनाई से ग्रहण हो पाता है तो साहित्य आसानी से। विचार मस्तिष्क को प्रभावित करता है तो साहित्य हृदय को। विचार तर्क प्रधान होता है तो साहित्य कला प्रधान। विचारों का प्रभाव बहुत देर से शुरू होता है और देर तक रहता है तो साहित्य का प्रभाव तत्काल होता है और अल्पकालिक होता है।

साहित्य विचारों की कब्र होता है। साहित्य विचारो को कब्र मे पहुंचाकर लम्बे समय तक के लिये सुरक्षित रखता है दूसरी ओर साहित्य विचारों को देश काल परिस्थिति के आधार पर होने वाले नये–नये संशोधनों से भी दूर कर देता है। विचार व्यक्ति के ज्ञान का विस्तार करता है तो साहित्य भावना का। दोनों का प्रभाव समाज पर अलग–अलग होता है।

विचारक चाहे जितना गंभीर निष्कर्ष निकाल ले किन्तु जब तक उसे साहित्य का सहारा नहीं मिलता तब तक वह आगे नही बढ़ पाता। या तो वह वही पड़ा–पड़ा सड़ जाता है या साहित्य से संयोग की प्रतीक्षा करता रहता है। इसी तरह साहित्य को जब तक विचार न मिले तब तक वह निष्प्राण निष्प्रभावी प्रदर्शन मात्र करता रहता है। विचार विहीन साहित्य एक मृत शरीर है जो आत्मा के अभाव मे समाज के लिये घातक प्रभाव डालना शुरू कर देता है। ऐसा साहित्य विचारों के अभाव मे प्रचार से प्रभावित हो जाता है तथा असत्य को ही समाज में सत्य के समान स्थापित कर देता है। वर्तमान समय में लगभग यही हो रहा है। यह स्थिति भारत की ही नहीं है बल्कि सारे विश्व की है।

यदि किसी अपवाद को छोड़ दे, तो साहित्यकार और विचारक भी अलग–अलग ही होते है। न कोई विचारक साहित्य से शून्य होता है न कोई साहित्यकार विचार से। किन्तु साहित्यकार और विचारक मे कोई एक गुण प्रधान होता है और दूसरा आंशिक। प्रधान गुण ही उसे विचारक या साहित्यकार होने की पहचान दिलाता है। विचारक को अधिकतम सम्मान तथा न्यूनतम सुविधाएं मिलती है जबकि साहित्यकार को सामान्य सम्मान तथा सामान्य सुविधाएं। विचारक आमतौर पर व्यावसायिक मार्ग में नहीं जा पाता जबकि साहित्यकार आम तौर पर व्यावसायिक दिशा मे बढ़ता है। विचारक का मुख्य लक्ष्य सामाजिक होता है और व्यक्तिगत या पारिवारिक सहायक लक्ष्य। साहित्यकार का मुख्य लक्ष्य व्यक्तिगत या पारिवारिक होता है और सामाजिक लक्ष्य सहायक । विचार कई प्रकार के होते है जिनमे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि है। साहित्यकार भी कई तरह के है जिनमें नाटककार, कलाकार, साहित्यकार, कथाकार, व्यंगकार आदि होते है। कथाकार भी विचारक न होकर साहित्यकार की ही श्रेणी में होते है क्योंकि कथाकार आम तौर पर कला का उपयोग करते है। जो भी व्यक्ति काल्पनिक कहानी को सत्य के समान स्थापित करें वह विचारक नहीं हो सकता। जो भी व्यक्ति श्रोताओं को जनहित की जगह जनप्रिय भाषा का उपयोग करके मोहित कर ले वह विचारक नहीं हो सकता।

गांधी एक विचारक थे जिनके निष्कर्षो को अनेक कलाकारों, साहित्यकारो, कवियों, नाटककारो ने समाज में दूर–दूर तक पहुंचाया। जय प्रकाश, अन्ना हजारे आदि को भी हम ऐसे मौलिक चिन्तक के रूप मे गिन सकते हैं । राम मनोहर लोहिया, मधुलिमये, दीनदयाल उपाध्याय, अटल विहारी वाजपेयी आदि को भी हम आंशिक रूप से इस लाइन में जोड़ सकते है। यद्यपि इनमे मौलिक विचार के साथ–साथ कुछ–कुछ साहित्यिक क्षमता भी थी। अन्य भी अनेक लोग विचारक के रूप में रहे किन्तु उन्हें साहित्यकारों कलाकारों का सहारा नहीं मिलने से वे अप्रकाशित ही रहे। धीरे–धीरे स्थिति यह आई कि मौलिक चिन्तन का अभाव हुआ और साहित्यकारों कलाकारों की बाढ़ आनी शुरू हुई। साहित्यकार, कलाकार, कथाकार, नाटककार ही स्वयं को विचारक घोषित करने लगे और समाज भी उन्हें विचारक मानने की भूल करने लगा। इन सब में मौलिक चिन्तन करने और निष्कर्ष निकालने की तो क्षमता थी नहीं और कला के माध्यम से विचार समाज तक पहुंचाना इनकी मजबूरी थी। अतः वास्तविक विचार और विचारकों के अभाव में इन सबने राजनेताओं के ही विचारों और निष्कर्षो को अपनी कला के माध्यम से समाज तक पहुंचाना शुरू कर दिया। कितनी बचकाना बात है कि राजनेताओं ने दहेज, आबादी वृद्धि, महिला अत्याचार, कन्या भ्रूण हत्या, मंहगाई जैसे अस्तित्वहीन, अप्राथमिक अथवा अल्प प्राथमिक मुद्दो को सर्वोच्च प्राथमिक बोल

दिया और साहित्यकारों, कलाकारों ने पूरी इमानदारी से इन मुद्दो को समाज के सामने सर्वोच्च प्राथमिकता के रूप में स्थापित कर दिया। आज देश के किसी अच्छे से अच्छे स्थापित विचारक की भी हिम्मत नहीं कि वह इन विषयों पर अपने अलग विचार रख सकें। यहां तक कि पूर्व वित मंत्री चिदम्बरम, गृहमंत्री शिन्दे, स्वयं प्रधानमंत्री या वित्त मंत्री अरुण जेटली भी इन मुद्दो पर आंशिक यथार्थ भी बोल दें तो पूरा देश एकदम से ऐसी बातों के खिलाफ उबल उठता है। ये सारे असत्य सत्य के समान स्थापित हो गये है और यदि किसी गंभीर विचारक ने चपटी सिद्ध पृथ्वी को गोल कहने का दुस्साहस किया तो या तो उसे स्थापना के पहले फांसी पर चढ़ने को तैयार रहना होगा या अपना निष्कर्ष बदलने को मजबूर होना पड़ेगा। कलाकारों, साहित्यकारों की इस जमात को इसके बदले में राजनेता या सरकारे विभिन्न पुरस्कार तथ अलंकरण देकर पुरस्कृत सम्मानित तथा उपकृत भी करते रहती है। दोनों का अपना–अपना उद्देश्य पूरा हो जाता है और विचारक का विचार किसी कोने मे पड़ा आंसू बहाता रहता है।

विचार तो पूरी तरह स्वतंत्र होता है। न तो विचार कभी प्रतिबद्ध हो सकता है न होता है। वैसे तो साहित्यकार भी नैतिक रूप में स्वतंत्र ही होता है और यदि कोई कवि या लेखक विचार प्रतिबद्ध न होकर सत्ता प्रतिबद्ध हो जाता है तो वह चारण या भाट तो कहा जा सकता है किन्तु साहित्यकार नहीं। किन्तु आज साहित्कार तो प्रतिबद्ध दिखने ही लगे है। और चूंकि विचारकों के अभाव में साहित्यकार ही विचारक बन रहे है, इसलिये प्रतिबद्धता विचारकों तक को निगल गई है। प्रतिबद्धता की बीमारी वामपंथ से शुरू हुई। वामपंथियों ने अपनी आवश्यकतानुसार लेखक, साहित्कार, कवि, नाटककार तैयार किये, बढ़ाया, स्थापित किया तथा उपयोग किया। प्रगतिशील लेखक संघ आदि के नाम से ऐसे ही प्रतिबद्ध संगठन खड़े किये गये जो हमेशा–हमेशा के लिये गुलाम होते हुए भी स्वयं को स्वतंत्र कहते रहे। इन सबके संगठन बने जो एक दूसरे के साथ जुड़कर काम करते रहे। ऐसे प्रतिबद्ध साहित्य के बढ़ते प्रभाव की सफलता से आंतकित संघ परिवार ने भी अपने प्रतिबद्ध साहित्यकार बनाना शुरू किया किन्तु बाद में। आज वामपंथी प्रतिबद्ध साहित्य समाज में मजबूत तो है किन्तु उसे संघ साहित्य से भी कड़ी चुनौती मिल रही है।

मीडिया और साहित्य का भी चोली दामन का संबंध होता है। मीडिया समाज का सूचना तंत्र भी होता है तथा साहित्य का संवाहक भी। मीडिया भी आमतौर पर स्वतंत्र होता है और मीडिया की इसी स्वतंत्रता ने उसे लोकतंत्र का चौथा स्तंभ कहना शुरू किया। मीडिया आज भी प्रतिबद्धता की बीमारी से तो कुछ–कुछ बचा हुआ है। प्रगतिशील मीडिया अथवा संघ का मीडिया जैसे आरोप नहीं के बराबर है किन्तु लोकतंत्र का चौथा स्तंभ बनते बनते मीडिया भी वास्तव मे चौथा स्तंभ ही बन बैठा है। पेड न्यूज अथवा जिंदल प्रकरण कोई विशेष बात न होकर आम बात हो गई है। मीडिया का व्यावसायिक होना उसकी मजबूरी भी है। जब समाज सेवा के बोर्ड लगातार एन0जी0ओ0 व्यावसायिक हो सकते है, राजनीति व्यावसायिक हो सकती है तो मीडिया बच कैसे सकता है क्योंकि मीडिया का कार्य तो वैसे ही अर्ध व्यावसायिक होने से उसे आर्थिक रूप से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। जब राजनीति और समाज सेवा जैसे अव्यावसायिक क्षेत्र ही व्यावसायिक हो गये तो मीडिया को कैसे दोष दे सकते हैं। ये पेड न्यूज अथवा जस्टिस काठजू की चिन्ताएं उचित होते हुए भी अनावश्यक हैं। जब तक समाज सेवा और राजनीति का व्यवसायीकरण नहीं रूकता तब तक मीडिया को दोष देना ठीक नहीं क्योंकि वह तो लोकतंत्र का चौथा स्तंभ है।

विचारक कभी किसी विचार से प्रतिबद्ध नहीं होता। वह इतिहास तथा भूतकाल से मार्ग दर्शन लेता है, और हमेशा वर्तमान में सोचता है। विचारक वैज्ञानिक होता है, अनुसंधानकर्ता होता है तथा हमेशा निष्कर्ष निकालने में लगा रहता है। विचारक कभी मृत महापुरुषों के विचार बिना स्वयं शोध किये अक्षरशः अनुकरण नहीं करता। कोई भी विचारक कभी संगठन का सदस्य नहीं होता। चाहे वह विचारकों का ही संगठन क्यों न हो। पिछले 67 वर्षो से किसी मृत महापुरुष के विचारों को आदर्श मानकर साहित्यकारों ने उसका अंधानुकरण किया, क्योंकि उसे राज्याश्रय प्राप्त था। उस समय किसी दूसरे भिन्न मृत महापुरुष के विचारों को आगे बढ़ने से लगातार रोका गया। चुंकि 67 वर्षो तक स्थापित साहित्य के विरुद्ध दूसरे साहित्य को मान्यता मिली, और उक्त भिन्न विचार बढ़ते–बढ़ते राज्याश्रय तक पहुँच गया। तो मैं नहीं समझता की इतनी जल्दी साहित्यकारों, कलाकारों, प्रछन्न विचारकों या तथाकथित वैज्ञानिकों को निराश होकर धैर्य क्यों छोड़ना चाहिए? दो भिन्न–भिन्न प्रतिबद्धताएँ यदि मैदान में साहित्यकार के रुप में एक दूसरे से टकरा रही है तो उसमें किसी एक को रोने धोने का क्या औचित्य है? क्या आपके साहित्य में वह यर्थात् नहीं था, जो 67 वर्षो तक राज्याश्रय पाने के बाद भी अमर नहीं हो सका। क्या आप इस प्रकार राज्याश्रय पर जीवित थे कि एक वर्ष में ही विधवा विलाप सरीखा रोने लग गये। यदि किसी अन्य प्रतिबद्ध साहित्य ने 67 वर्षो के बाद आपको किनारे किया है तो आप एक वर्ष में ही अपनी संभावित मृत्यु से इतने

पीड़ित क्यों होने लगे? मैंने तो बहुत खोजा किन्तु मुझे चिल्लाने और रोने धोने वाले साहित्यकारों, कलाकारों में से एक भी ऐसा नहीं लगा, जो आंशिक रुप से भी विचारक की भूमिका में हो।

मैं न पिछले प्रतिबद्ध साहित्कारों के पक्ष में कभी रहा और न ही वर्तमान प्रतिबद्ध साहित्कारों के, क्योंकि दोनों ही किसी वर्तमान विचारक के निष्कर्ष को आगे नहीं बढ़ा पा रहे है। बल्कि दोनों ही मृत महापुरुषों के निष्कर्षों का अंधानुकरण कर रहे है। किन्तु पिछले एक वर्ष से यह शुभ लक्षण दिख रहा है कि वैचारिक जड़ता को किसी भिन्न वैचारिक जड़ता से चुनौती मिल रही है, और उसका लाभ होगा कि दो जड़ विचारों के बीच किसी वास्तविक विचारक को भी कोई स्थान प्राप्त हो सकेगा। इस टकराव में हम सबका कर्तव्य है कि हम विचार मंथन को आगे बढ़ाने का प्रयास करें।

वैसे पूरी तरह निराश होना भी ठीक नहीं। अभी बम्बई की दो सामान्य मुसलमान लड़कियों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति के विरूद्ध किये गये अथवा पाकिस्तानी गायक के विरुद्ध कालिख पोतने जैसे शिव सैनिक व्यवहार को मुंह की खानी पड़ी। वह वैचारिक स्वतंत्रता के प्रति जन भावना की चिन्ता को भी व्यक्त करती है। स्वतंत्र विचारकों को हिम्मत रखने की जरूरत है। भले ही साहित्य अपनी स्वतंत्रता खो दे किन्तु विचार अपनी स्वतंत्रता के लिये संघर्ष करता रहेगा क्योंकि यदि विचार अपनी स्वतंत्रता को बचाने में सफल रहा तो साहित्य उसका साथ दे सकता है और तब स्वतंत्र साहित्य तथा स्वतंत्र विचार मिलकर समाज के बीच बढ़ते अंधेरे को घटाने में सहायक हो सकते है। यदि साहित्य प्रतिबद्ध गुलाम या भयभीत हुआ तो आंशिक क्षति है, यदि राजनीति हुई तो कुछ विशेष क्षति है, यदि समाज सेवा हुई तो अपूर्णनीय क्षति है किन्तु यदि विचार ही प्रतिबद्ध, गुलाम, व्यावसायिक या भयग्रस्त हुआ तो बचा ही क्या? आइये और विचार अभिव्यक्ति पर आये संकट का सामना करने को सब एकजुट हो जावें।

# आरक्षण की एक तटस्थ समीक्षा

मैं लम्बे समय से किसी भी प्रकार के आरक्षण के विरुद्ध रहा हूँ। वह भी लगभग 50–60 वर्षों से वर्तमान समय में मोहन भागवत जी ने आरक्षण पर टिप्पणी करके एक गम्भीर बहस छेड़ दी है। मेरे एक मित्र ओम प्रकाश मंजुल ने भी आरक्षण के विरुद्ध बहुत मजबूती से लम्बा लेख लिखा है। मेरे अनेक मित्र किसी भी प्रकार के आरक्षण के पूरी तरह विरुद्ध है और मैं आरक्षण के पूरी तरह विरुद्ध होते हुए भी अपने अन्य साथियों से पूरी तरह विरुद्ध हूँ क्योंकि उनकी सोच और मेरी सोच में जमीन–आसमान का अंतर है। मेरे विचार में मोहन भागवत जी की सोच भी मेरी सोच के बिल्कुल विपरीत है। मैं जहॉ आरक्षण को आदिवासियों, हरिजनों, महिलाओं के विरुद्ध एक सोचा समझा सवर्ण षड़यंत्र मानता हूँ और यह समझता हूँ कि यह आरक्षण उनकी प्रगति में बाधक है तो हमारे अन्य साथी जिसमें मोहन भागवत जी भी शामिल है उनके अनुसार आरक्षण सवर्णो के साथ अन्याय है। इसका अर्थ हुआ कि मैं अन्य सबके विपरीत आरक्षण को अवर्णो के साथ अन्याय मानता हूँ।

भारत की सम्पूर्ण आबादी में हरिजनों, आदिवासियों का प्रतिशत करीब 25 है। इसका अर्थ हुआ कि करीब पॉच करोड़ परिवार इस श्रेणी में आते है। वर्तमान समय में कुल 25 करोड़ परिवारों में से तीन लाख परिवारों के लोग ही आरक्षण का लाभ उठाकर विभिन्न पदों पर विराजमान है। यह प्रतिशत तो पूरी आबादी पर आधा प्रतिशत से भी कम है। स्वतंत्रता के बाद आरक्षण का लाभ उठाकर प्रगति कर चुके परिवारों का प्रतिशत भी लगभग एक दो के आसपास है। अर्थात् करीब दस लाख परिवार आगे निकल पाये है और भविष्य में इन्हीं परिवारों के लोग आगे जाते रहेंगे। अन्य परिवारों का नंबर ही नहीं आयेगा। प्रश्न उठता है कि साढ़े निन्यानवें प्रतिशत स्थान प्रतिस्पर्धा से भरे जा रहे है और आधे प्रतिशत से भी कम आरक्षण से तो मैं नहीं समझता कि इतनी हाय तोबा क्यों । यदि भारत के चौबीस करोड़ परिवारों को उच्च, मध्यम और कमजोर वर्ग में बॉटा जायें, तो सम्पन्न वर्ग में बुद्धिजीवी, पुंजीपति का समिश्रण आता है, और मध्यम वर्ग में बुद्धिजीवी, श्रमजीवी का समिश्रण। निम्न वर्ग में तो लगभग श्रमजीवी ही माने जाते है। सम्पन्न उच्च वर्ग का ऑकलन करें तो उनमें आठ करोड़ परिवारों में शायद ही सौ दो सौं परिवार आरक्षण का लाभ उठाकर आगे बढ़ पायें होंगे। मध्यम वर्ग में अवश्य ही हम दो तीन लाख परिवारों को मान सकते है। शेष पॉच करोड़ हरिजन, आदिवासी तो आज भी उसी श्रमिक परिवार में है जहॉ पहले थे। प्रश्न उठता है कि कितना अन्याय हो गया आरक्षण के बाद सवर्णो के साथ? मुझे तो लगता है कि मेरे अतिरिक्त आरक्षण के विरुद्ध जो भी लोग आवाज उठा रहे है वे आरक्षण का विकल्प दिये बिना उसका विरोध कर रहे हैं, और स्पष्ट होता है कि वे सवर्णो की वकालत कर रहे हैं। जिसका अर्थ है कि उनकी नीयत खराब है। यदि आरक्षण नहीं होता तो आज एक प्रतिशत आबादी सवर्णो के स्तर तक जा सकी है वह भी क्या जा पाती?

इन सबको समझते हुए भी मैं किसी भी प्रकार के आरक्षण के विरुद्ध हूँ क्योंकि आरक्षण ने इन पिछड़े आदिवासियों, हरिजनों, महिलाओं की समानता के मार्ग खोजने के विकल्प बंद कर दिये और धूर्त आदिवासियों, हरिजनों, महिलाओं को अन्य पिछड़ो की कीमत पर अपनी प्रगति के हथियार दे दिये। स्पष्ट है कि पिछड़े वर्ग के 99 प्रतिशत लोग अब भी श्रमजीवी है और शेष सवर्ण वर्ग के लोगों में से दो चार प्रतिशत ही श्रमजीवी है अन्यथा अधिकांश या तो बुद्धिजीवी है या सम्पन्न।

दो प्रकार की प्रणालियों का संयुक्त और समन्वित प्रयास ही आदर्श माना जाता है। पहला प्रतिस्पर्धा प्रणाली और दूसरा काफिला पद्धति। सम्पूर्ण आबादी को प्रतिस्पर्धा प्रणाली में डाल देना कमजोरों के साथ अन्याय है और सम्पूर्ण आबादी को काफिला पद्धति के समान चलाना प्रगति में बाधक होगा। प्रगति में बाधा न हो और किसी के साथ अन्याय भी न हो, उसी प्रणाली को आदर्श माना जाता है। इसका अर्थ हुआ कि व्यवस्था को चाहिए कि वह एक सीमा रेखा बनाकर उस सीमा से ऊपर के लोगों को प्रतिस्पर्धा प्रणाली से प्रगति करने की पूरी स्वतंत्रता दे और उस रेखा से नीचे वाले को जीवन जीने के सहायक अवसर प्रदान करे। मैं इस बात के बिल्कुल विरुद्ध हूँ कि अमीरों की कोई आर्थिक सीमा बना दी जावें। ऐसी सीमा रेखा तो आर्थिक असमानताओं का कम समाधान करेगी और राजनैतिक असमानता तेजी से बढ़ा देगी। किन्तु मैं इस बात के भी बिल्कुल विरुद्ध हूँ कि एक सीमा रेखा के नीचे वालों को कोई बैठे बिठाये आर्थिक सहायता देना अनुचित है। मैं इस बात को उचित नहीं समझता कि अनुचित उचित के चक्कर में ऐसे निट्ठल्ले या कमजोर लोगों को बिल्कुल मर ही जाने दिया जाये। यदि सवर्णों की नीयत ठीक होती तो वे श्रम की मांग और मुल्य को बढ़ने से रोकने का षड़यंत्र नहीं करते, किन्तु उन्होंने किया, जिसका दुष्परिणाम है आज का अन्याय। सरकारी कार्मचारियों का तथा राजनेताओं का वेतन, सम्मान और शक्ति बढ़ाकर उसमें कुछ पिछड़े लोगों को शामिल करना शेष पिछड़े लोगों के साथ अन्याय भी था, और धोखा भी। सम्पन्न लोग तो इस शोषण में प्रत्यक्ष दिखते थे लेकिन साम्यवादियों और बुद्धिजीवियों ने श्रमशोषण के लिए जो षड़यंत्र किया वह एक प्रकार का पाप है अर्थात् साम्यवादियों ने पूँजीपतियों की वकालत की और श्रमजीवियों को धोखा दिया। साम्यवादी जान दे देगा लेकिन कृत्रिम ऊर्जा की मूल्यवृद्धि नहीं होने देगा। क्योंकि यदि कृत्रिम ऊर्जा की मूल्यवृद्धि हो गई तो श्रमजीवी उनकी कृपा का मोहताज नहीं रहेगा, और यह उनके लिए दुहरा नुकसान होगा अर्थात् पूँजीपतियों से मिलने वाली सहायता भी जायेगी और पिछड़ों का वोट भी। यदि कृत्रिम ऊर्जा का मूल्य बढ़ाकर श्रम की बुद्धिजीवियों के साथ प्रतिस्पर्धा में दूरी घटती तो अपने आप आदिवासियों और हरिजनों की तरक्की के मार्ग खुलते । इसी तरह यदि हम महिलाओं पर भी विचार करें तो महिलाओं को परिवार में समान अधिकार प्राप्त नहीं है। जो लोग महिला आरक्षण के विरुद्ध है वे पहले इस आरक्षण का विकल्प क्यों नहीं देते? यदि परिवार की वर्तमान परिभाषा में थोड़ा सा संशोधन करके नई परिभाषा ऐसी बना दी जाये कि परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति में परिवार के सभी सदस्यों का समान हिस्सा होगा तथा परिवार के सभी उच्च पद पर लोंकतांत्रिक तरीके से निर्वाचित किये जायेंगे तो आरक्षण समाप्त किया जा सकता है। इससे व्यक्तिगत सम्पत्ति का पश्चिम का अंधानुकरण भी समाप्त हो सकता है तथा परिवार में सम्पत्ति के विवाद भी समाप्त हो जायेंगे। व्यक्तिगत सम्पत्ति किसी की रहेगी ही नहीं। इसी तरह यदि कृत्रिम ऊर्जा की भारी मूल्यवृद्धि करके गरीब ग्रामीण श्रमजीवी के उत्पादन और उपभोग की सभी वस्तुओं को कर मुक्त कर दिया जाये तो अपने आप आरक्षण अनावश्यक हो जायेगा और आरक्षण के विरुद्ध आवाज उठाना न्याय संगत हो जायेगा, लेकिन किसी प्रकार का विकल्प दिये बिना आरक्षण का विरोध करना पूरी तरह षड़यंत्र है। और मैं ऐसे षड़यंत्र का भागीदार नहीं हो सकता। मुझे आश्चर्य है कि मुझे इन दो बातों के साथ आरक्षण का विरोध करते पचासों वर्ष बीत गयें किन्तु आज तक भागवत जी के और मंजूल जी के कान तक यह बात नहीं पहुंची। कही ऐसा तो नहीं है कि यह बात पहुंचने के बाद भी वे न सुनना चाहते हो। मैं स्पष्ट हूँ कि आरक्षण का पूरजोर तरीके से विरोध करने के पूर्व विकल्प अवश्य जुड़ा हो अन्यथा विकल्पहीन सुझाव आपकी नीयत में खोट उजागर कर देगा।

## बिहार चुनाव परिणाम और एक स्पष्ट संदेश

बिहार विधानसभा के चुनाव सम्पन्न हुए। भारतीय जनता पार्टी अपनी हार की समीक्षा कर रही है। पार्टी किसी न किसी पर हार का दायित्व थोपेगी चाहे वह सही हो या बहाना मात्र। किन्तु यदि कोई अप्रत्याशित घटना होती है तो उसके कारण और घटना के राष्ट्रीय स्तर पर पड़ने वाले प्रभाव का ऑकलन करना आवश्यक हो जाता है।

मैं पिछले 5–7 वर्ष पूर्व से लगातार इस मान्यता का रहा हूँ कि भारत में स्वतंत्रता के बाद सर्वश्रेष्ठ प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह हुए है,जो वर्तमान में दौड़ से बाहर है। दूसरा नंबर नीतिश कुमार का था। तीसरा अरविंद केजरीवाल का और चौथा नरेन्द्र मोदी का। अरविंद केजरीवाल भी अभी आंशिक रुप से दौड़ से बाहर ही दिखते है। किन्तु मैं अब भी मानता हूँ कि नीतिश कुमार, नरेन्द्र मोदी की अपेक्षा अधिक अच्छे प्रधानमंत्री हो सकते है और इस तरह प्रधानमंत्री पद की दौड़ नीतिश कुमार और नरेन्द्र मोदी के बीच सिमट जाना भारतीय राजनीति का शुभ लक्षण है। बिहार चुनाव को मैं भी बहुत नजदीक से देख रहा था और मैं यह निर्णय नहीं कर पा रहा था कि मैं किसकी जीत में खुशी मनाऊँ। नीतिश कुमार ने बिहार में लोकतांत्रिक तरीके से समस्याओं का अच्छा समाधान किया और नरेन्द्र मोदी ने तानाशाही से गुजरात में समस्याओं का अच्छा समाधान किया। नरेन्द्र मोदी प्रधानमंत्री बने और उन्होंने अपने चिर परिचित तरीके से देश की समस्याओं के समाधान में अनेक सफलताएँ प्राप्त कीं। फिर भी मेरे मन में लोकतंत्र के प्रति गहरी आस्था होने के कारण मेरा मन नीतिश कुमार के तरफ झुक जाता था। दूसरी ओर नरेन्द्र मोदी की हार के प्रति कल्पना करके मेरे मन में भारी शंका हो जाती थी कि कहीं नीतिश कुमार की भारी विजय नरेन्द्र मोदी को केन्द्र में अस्थिर या कमजोर करने का माध्यम न बन जावे। स्वाभाविक था कि तत्काल में नरेन्द्र मोदी की जगह राष्ट्रीय स्तर पर नीतिश कुमार के लेने की कोई सम्भावना नहीं थी और अवांछित पद्लोलुप ज्यादा उछलकूद करते जो वर्तमान में शुरुवात हो चुकी है। अच्छा तो यह होता कि नीतिश कुमार को

एकपक्षीय बहुमत न मिलकर संतुलित बहुमत मिलता किन्तु बिहार की जनता ने कुछ सोच समझकर ही ऐसा किया होगा। वर्तमान परिणाम आने के बाद मैंने इन परिणामों से एक संतोष का आधार खोजा कि नरेन्द्र मोदी के पक्ष और विपक्ष के बीच एक पक्षीय असंतुलन लोक स्वराज्य के लिए घातक हो सकता है। मुझे लगा कि मेरे न चाहते हुए भी जो हुआ वह अच्छा हुआ अर्थात् भारत में लोकतंत्र, लोकस्वराज्य की दिशा में बढ़ता रहेगा।

भारतीय जनता पार्टी बिहार में बहुत बुरी तरह चुनाव हार गई, जिसकी कल्पना न जीतने वालों को थी न ही हारने वालों को। प्रश्न उठता है कि यह नीतिश कुमार की जीत है अथवा भाजपा की हार। मेरे विचार में इस जीत कें पीछे नीतिश कुमार की भूमिका कम दिखती है और भाजपा की गलती अधिक। हर कोई जानता है कि बिहार में भाजपा के पास संघ मिलाकर करीब 25 प्रतिशत प्रतिबद्ध मतदाता है और नरेन्द्र मोदी के विकास से जुड़े मतदाताओं की संख्या 5–7 प्रतिशत से अधिक नहीं हैं। दूसरी ओर लालू प्रसाद और कांग्रेस के मिलाकर प्रतिबद्ध मतदाताओं की संख्या भी करीब इतनी है। नीतिश कुमार का कोई मजबूत संगठन नहीं है और इस तरह उनके प्रतिबद्ध मतदाताओं की संख्या भी 2–4 प्रतिशत से अधिक नहीं है। शेष 20–25 प्रतिशत मतदाता तटस्थ है जो चुनाव तक अपने विचार बदलते रहते हैं। ये अप्रतिबद्ध मतदाता आमतौर पर शराफत के प्रति झुकते है और इनके विचार कभी साफ नहीं दिखते, न मीडिया को न ही राजनैतिक दलों को। स्वाभाविक है कि ये तटस्थ मतदाता तेजी से भाजपा के विरुद्ध गये और उसका एक ही कारण था कि उन्हें भाजपा के पक्ष की अपेक्षा नीतिश कुमार के पक्ष में शराफत अधिक दिखी। वैसे तो नीतिश कुमार और नरेन्द्र मोदी के अपने विचार प्रस्तुति में भी आसमान जमीन का अंतर है किन्तु भारतीय जनता पार्टी के कुछ लोगों ने अपने प्रतिबद्ध मतदाताओं को अधिक सक्रिय करने के लिए तटस्थ मतदाताओं को अपने से दूर कर दिया। भारतीय जनता पार्टी अच्छी तरह जानती थी कि मुसलमान 90 प्रतिशत तक प्रतिबद्ध मतदाता है और हिन्दुओं में प्रतिबद्ध मतदाताओं का प्रतिशत 20–30 से ज्यादा नहीं है। 80 वर्षो के संघ जीवन के बाद भी यह बात सिद्ध है कि यदि अप्रतिबद्ध तटस्थ हिन्दुओं को किसी तात्कालिक भावना में भी बहाकर प्रतिबद्ध बनाया जाये तो वह प्रतिबद्धता क्षणिक ही होती है और जल्दी ही हिन्दू फिर से तटस्थ हो जाता है। 80 वर्षो के अनुभव के बाद भी यदि मोहन भागवत सरीखे लोग नहीं समझ पाते तो इसमें दोष किसका है? नरेन्द्र मोदी बिल्कुल ठीक दिशा में जा रहे थे लेकिन मोहन भागवत के कुछ प्रतिबद्ध शिष्यों ने स्वाभाववश उस लाईन के विपरीत दिशा पकड़ी। भागवत जी ने आरक्षण के खिलाफ बयान देकर और रही सही कसर पूरी कर दी। मैं जानता हूँ कि मुसलमानों का बहुमत, सिक्खों का बहुमत, भेड़ चाल होता है और जल्दी ही भावनाओं में बहकर इकट्ठा हो जाता है। भागवत जी के शिष्यों ने प्रयत्न किया कि गोमांस सरीखे मुद्दे को उछालकर हिन्दुओं की भावनाओं को इकट्ठा किया जा सकता है, जिसमें वे असफल रहें। स्पष्ट है कि सिख, मुसलमान और संघ परिवार का बहुमत क्षत्रिय प्रवृत्ति का होता है जिसे हम सैनिक प्रवृत्ति भी कहते है। इनके पास दिमाग कम होता है और समर्पण ज्यादा। इनका एक तरह से बचपन से ही ब्रेनवाश हो जाता है जो आगे चलकर उनका संस्कार बन जाता है और संस्कार किसी तर्क से बदलना बहुत कठिन होता है। यही कारण है कि समाज में साम्प्रदायिकता को या तो नियंत्रित किया जा सकता है या कुचला जा सकता है किन्तु कभी संतुष्ट नहीं किया जा सकता। यह सिद्धांत सिक्खों, मुसलमानों और कम्युनिष्टों पर तो लागू होता ही है, साथ ही संघ परिवार पर भी समान रुप से लागू होता है। कुछ लोग यह मानते है कि मोहन भागवत जी नरेन्द्र मोदी की अपेक्षा राजनाथ सिंह या शिवराज सिंह को अधिक पसंद करते है और इसलिए जानबूझकर बिहार में उन्होंने हस्तक्षेप किया। लेकिन मुझे इसकी सम्भावना नहीं के बराबर दिखती है क्योंकि किसी सम्प्रदायिक संगठन के प्रमुख लोगों में इतना दिमाग नहीं होता कि वे सोच समझकर कोई दूरगामी कदम उठावें। मुझे तो लगता है कि भागवत जी ने हिन्दू एकत्रीकरण के लिए गोमांस के मुद्दे को हवा दी। प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में उन्होंने आरक्षण का मुद्दा क्यों उठाया जो हिन्दू समाज को ही बॉटने वाला था और वह भी बिहार चुनाव के समय? इस बात को यदि सोचे तो आंशिक रुप से संदेह तो होता है किन्तु यह संभव है कि भागवत जी के अनुसार बिहार में सवर्ण मतदाता पिछड़े मतदाताओं को पुराने सरीखे प्रभावित कर सकते है। किन्तु उन्होंने नए बिहार की कल्पना नहीं की जहॉ पिछड़े वर्ग के लोग भी वोट देना सीख गए है। या उन्हें यह अंदाज नहीं होगा कि विपक्ष इसी आरक्षण को मुद्दा बनाकर सवर्णो को अलग थलग कर देगा।

चुनाव के नतीजे आ चुके है। लगता है कि भागवत जी के चेलों ने अब भी सबक नहीं सीखा। एक भाजपा के केन्द्रिय पदाधिकारी मुरलीधर राव ने नतीजों के एक घंटे बाद ही यह बयान दिया की शत्रुघन सिन्हा को पार्टी से निकाल दिया जाये तो दूसरी ओर कैलाश विजय वर्गीय ने भी शत्रुघन सिन्हा के लिए अभद्र भाषा का उपयोग किया। ऐसा लगा जैसे ये लोग इस जल्द बाजी में हैं कि कोई दूसरा इस चापलूसी में बाजी न ले जाये। शत्रुघन सिन्हा अब भी आपकी पार्टी के सांसद है। क्या यह आपकी मूर्खता या बदमाशी नहीं है कि बिना पार्टी की कार्यवाही के आप मीडिया में किसी के खिलाफ खुलकर बयान दे। चुनाव के नतीजे एक तरह से परिवार में किसी महत्वपूर्ण सदस्य की मृत्यु से कम दुखदाई नहीं थे, और ऐसे समय में ऐसे उच्श्रृंखल लोग बिना सोचे समझे उग्र भाषा के प्रयोग की पहल करें तो लगता है कि उन्हें न हार का सदमा है, न हार के कारणों से कोई मतलब है। उन्हें तो केवल अपनी उग्रता स्थापित करने में पहल प्राप्त करने से मतलब है।

मैं समझता हूँ कि पूरे घटनाक्रम में नरेन्द्र मोदी से केवल एक भूल हुई कि उन्हें प्रधानमंत्री रहते हुए किसी संगठन के प्रमुख के पास जाकर नतमस्तक नहीं होना चाहिए था चाहे वह संगठन हिन्दुओं का हो या मुसलमानों का। जिस तरह मोहन भागवत दिवाली के उपलक्ष्य में राष्ट्रपति को सम्मान देने गये उसी तरह उन्हे प्रधानमंत्री के लिए भी सम्मान देने की औपचारिकता निभानी चाहिए थी, और मोदी जी को भी उसी तरह अपने पद की गरिमा बनाये रखनी चाहिए थी। सम्भवतः इस एक भूल ने बहुत बड़ा खराब संदेश समाज को भी दिया, कट्टरपंथी हिन्दुओं को भी दिया तथा साथ ही साथ मोहन भागवत सरीखे व्यक्ति को भी वही संदेश दिया और उस संदेश का परिणाम आज भारतीय जनता पार्टी भुगत रही है। अच्छा हो कि अब भी समय है कि भाजपा और उसके कर्णधार नरेन्द्र मोदी ऐसी नीति बनावें कि बिहार में नीतिश कुमार को लालू पर निर्भरता न बढ़ानी पड़े। साथ ही मैं नीतिश कुमार को भी सलाह दूँगा कि वे अभी कुछ समय के लिए ऐसा कोई काम नहीं करें जो नरेन्द्र मोंदी को संघ की ओर झुकने के लिए मजबूर करता जायें। नरेन्द्र मोदी और नीतिश कुमार के बीच राजनैतिक ध्रुवीकरण एक शुभ लक्षण है। दूसरी ओर संघ और लालू प्रसाद के नेतृत्व में ध्रुवीकरण एक अशुभ लक्षण है। हमारे नेता इस संबंध में ठीक दिशा में सोचने का प्रयास करेंगे।

## जनादेश का गलत अर्थ लेने से अनर्थ, शेखर गुप्ता, दैनिक भास्कर 11 अक्टूबर

चुनाव जीतने के बाद राजनीतिक नेता यदि कोई सबसे बड़ी गलती कर सकते हैं, तो वह यह है कि वे जनादेश का गलत अर्थ लगा लें। नरेन्द्र मोदी और अमित शाह ने यह गलती 2014 के आम चुनाव में मिली जीत के बाद की। इसका नतीजा यह हुआ कि उनका सौभाग्य गोता खा गया। यह तथ्य बिहार चुनाव के परिणामों से स्पष्ट रुप से रेखांकित हुआ है।

भाजपा नेतृत्व ने 2014 के आम चुनाव में मिले जनादेश को आर0एस0एस0 शैली के हिन्दू राष्ट्रवाद और सामाजिक रुढ़िवाद की पुष्टि मान लिया। इसे इस रुप में भी देखा कि यह कड़े, तानाशाही शैली के शासन के लिए दिया गया वोट है, क्योंकि लोग यूपीए–2 की ढिले शासन से तंग आ गए थे। तीसरा और सबसे ज्यादा गलत यह नतीजा निकालना रहा कि जीत उ0प्र0 में विपक्ष के लगभग सफाए जैसी जीत, इस बात को पक्का करती है कि भारत में ध्रुवीकरण की अहम भूमिका है। यह कि यदि आप हिन्दुओं में मुस्लिमों का पर्याप्त डर पैदा कर दे ंतो उनके वोट एकजुट हो जाएंगे और ऐसे विभाजन में बहुसंख्यकों को हमेशा जीत होगी। यही तो बहुसंख्यकवाद की परिभाषा है। इसी प्रकार की राजनीति गुजरात में करीब दो दशकों से चल रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि 2014 के आम चुनाव में इसने उ0प्र0 में भी असर दिखाया। सोचा गया अब यह बिहार में क्यों नही चल सकता?

इसका उत्तर बिहार की मतदाताओं से आया है। बिहार, गुजरात नहीं है। सच तो यह है कि भारत का कोई भी राज्य नहीं है। अपवाद सिर्फ महाराष्ट्र है, लेकिन वह भी कुछ हद तक। भारत के किसी भी राज्य में मुस्लिमों के प्रति वह संदेश और पाकिस्तान के प्रति वह उन्माद नहीं है, जो आप गुजरात में देखते हैं। मैंने भूतकाल में इसका विश्लेषण करने की कोशिश की है, लेकिन कभी भी यकीनी तौर पर ऐसा नहीं कर सका हूँ। मैंने इसको खुद देखा है और इसकी भारी कीमत भी चुकाई है।

वर्ष 1992 में नवरात्रि के पहले दिन मैंने इंडिया टुडे पत्रिका का गुजराती संस्करण लॉन्च किया। मैं तब अंग्रेजी पत्रिका का वरिष्ठ संपादक होने के अलावा इसके अंतराष्ट्रीय और देश की अन्य भाषाओं के संस्करणों का प्रकाशक भी था। गुजरात के पत्रिका बाजार में प्रवेश बहुत रोमांचक था, क्योंकि यह मेरा पहला लॉन्च था। संयोग से उसी दौरान मेरी नरेन्द्र मोदी से पहली मुलाकात हुई। तब वे एक कमरे में रहने वाले साधारण पार्टी कार्यकर्ता थे। गुजराती संस्करण की पहली संपादक शीला भट्ट ने उनसे मेरी मुलाकात करवाई।

संस्करण ने अच्छा प्रर्दशन किया और कुछ ही हफ्तों में हम एक लाख प्रतियों के निकट पहुँच गए। तब मुश्किल से हमारा छठा अंक होगा। इंडिया टुडे तब पाक्षिक पत्रिका थी। और बाबरी मस्जिद की घटना हुई। हमने इस पर बहुत दृढ़, धर्मनिरपेक्ष और संवैधानिक रुख अपनाया। हमारे अंग्रेजी संस्करण के आवरण का शीर्षक था, नेशन्स शेम गुजराती में शेम का ठीक–ठीक तर्जुमा था कलंक। मार्केटिंग हेड दीपक शौरी ने हमें इसके खिलाफ आगाह किया। उन्होंने कहा कि गुजरात इसे कभी स्वीकार नहीं करेंगे। हम अपने संपादकीय रुख पर कायम रहे और फैसला किया कि हम बाजार के अनुकूल होने के लिए अपने मूलभूत दृष्टिकोण में नरमी नहीं लाएंगे। शौरी सही साबित हुए। अंक के बाजार में आते ही विरोध प्रदर्शनों की सुनामी आ गई। ये इन्टरनेट के पहले के दिन थे, लेकिन मेरी मेज पर इंडिया टुडे को पाकिस्तान टुडे और इस्लाम टुडे आदि कहने वाले पत्रों की बाढ़ आ गई। एक महिने में ही हमारी बिक्री 75 फीसदी गिर गई। संस्करण इससे कभी उबर नहीं पाया और कुछ वर्षो बाद इसे बंद करना पड़ा। गौर करें कि यह सब मोदी के उदय के बरसों पहले हुआ था। गुजरात में तब कांग्रेस सत्ता में थी, इसलिए मोदी या हिन्दुत्व को दोष मत दीजिए। यह गुजरात की जनता का दृष्टिकोण था।

ऐसा क्यों है, मैं इसका कभी जबाव नहीं खोज पाया। मेरे कुछ विद्वान गुजराती मित्रों ने मुस्लिम हमलों के लंबे इतिहास और सोमनाथ मंदिर को कई बार ध्वस्त करने की ओर इशारा किया। कुछ लोगों ने यह भी ध्यान दिलाया कि सीमावर्ती राज्य होने के बाद भी गुजरात ज्यादा लड़ाइयों का साक्षी नहीं बना, लेकिन इसे दो झटके जरुर लगे। 1965 की शुरुवात में हुई कच्छ की लड़ाई, जिसमें भारत ने बड़ी उदासीनता से लड़ाई लड़ी और उसे अपमानजनक युद्ध विराम के लिए राजी होना पड़ा और दूसरा झटका सितंबर 1965 के युद्ध में लगा जब पाकिस्तान

के सेबर विमान ने गुजरात सरकार के आभिकारिक डकोटा विमान को मार गिराया, जिसमें मुख्यमंत्री बलवंत राय मेहता सवार थे। तब अत्यधिक लोकप्रिय नेता रहे मेहता एकमात्र ऐसे बड़े व्यक्ति थे, जो स्वतंत्रता के बाद हुए संघर्ष के शिकार हुए। किन्तु ये बातें अब बहुत दूर की दिखाई पड़ती है और इससे गुजराती भावना की सच्ची व्याख्या नहीं होती।

मैं रास्ता नहीं भटका हूँ और अपने मुख्य विषय पर लौट रहा हूँ। तो सच्चाई यही है कि मैं चाहे इसे समझा न पाऊ कि गुजरात इस तरह क्यों सोचता है पर शेष भारत इस तरह नहीं सोचता। अयोध्या की घटनाओं के बाद वाले हमारे उसी शीर्षक व दृष्टिकोण ने बिहार सहित पूरे हिन्दी हदय प्रदेश में हमारे कहीं बड़े हिन्दी संस्करण की बिक्री कैसे आसमान पर पहुँचा दिया। जाहिर है शेष भारत अलग ढंग से सोचता है।

यदि गुजरात द्वारा इतनी शिद्दत से ठुकराएँ गए संस्करण का हिन्दी प्रदेश ने इतना स्वागत किया तो इसका अर्थ यही है कि जो वहॉ बिकता है, वह ठुकराया जा सकता है। 2014 के चुनाव में उ0प्र0 में इतनी जर्बदस्त जीत इसलिए मिली, क्योंकि युवाओं को आर्थिक तरक्की और निर्णायक सरकार के वादे में नई उम्मीद नजर आई। यह कोई मुश्किल या पाकिस्तान के खिलाफ जनादेश नहीं था। बिहार में बिल्कुल उल्टा हो गया। मतदाताओं ने देखा कि नीतिश वही सकारात्मक, रचनात्मक आहवान कर रहें है, जबकि भाजपा ने उन्हें मुस्लिम, पाकिस्तान, आतंकवाद से डराने की कोशिश की या उनसे गोरक्षा  का आहवान किया। लोगों ने सकारात्मकता को चुना।

इसलिए हमारा निष्कर्ष तरक्की के गुजरात मॉडल ने नरेन्द्र मोदी को 2014 में जीत दिलाई किन्तु चूंकि भाजपा पे जनादेश का गलत अर्थ निकाला, इसलिए यह ध्रुवीकरण के गुजरात मॉडल को भारत में अन्य जगहों पर भी आजमा रही है। कोई अचरज नहीं कि बिहार ने इस मॉडल को ठुकरा दिया।

## (1) ओमकार मिश्र, बाराबंकी, ज्ञानतत्व 7909

**प्रश्नः**—सेवा, सदाचार, सहृदयता, ही भारत की संस्कृति है। संयम, सहिष्णुता और पुरुषार्थ ही हमारा संस्कार है। नेहरु, इन्दिरा गॉधी, सोनिया गॉधी जी तथा राहुल गॉधी पदलोलुप महत्वाकांक्षी तथा चाटुकारों से घिरे है। इनमें भारतीय संस्कृति और संस्कार का कोई अंश न था और न है। अन्ना हजारे के पास विकास का मुद्दा नहीं है। वे केवल प्रचार में बने रहने के लिए कभी भ्रष्टाचार और वन रैंक, वन पेंशन, कालाधन का राग अलापते हैं। इसी तरह अरविंद केजरीवाल पदलोलुप, स्वार्थी और अपनी गलती छिपाने के लिए दूसरों की आलोचना ही धर्म मानते हैं। इनके बहुत सारे विधायक शिक्षा, नैतिकता और चरित्र में निम्न स्तर के हैं। जैसे कांग्रेस पार्टी में इन्दिरा गॉधी ने माननीय लाल बहादुर शास्त्री, पं.दीनदयाल उपाध्याय, श्री श्यामा प्रसाद मुखर्जी, बिहार के पं. ललित नारायण मिश्र पूर्व रेल मंत्री भारत सरकार केन्द्र में मंत्री जी वीर बहादूर सिंह को अपने रास्ते से हटाने के लिए समाप्त ही करा दिया। पं. नारायन दत्त तिवारी जी ,श्री के सी पंत और राजा कर्ण सिंह को पार्टी से अलग कर दिया। देश में इमर्जेन्सी लगाकर देश के प्रतिभावान नेताओं को जेल में डलवा दिया।

श्री नरेन्द्र मोदी जी त्यागी और कर्मठ हैं। आज भारत में स्वामी विवेकानंद जी के बाद मोदी जी हैं, जिनके सामने सारी दुनिया के लोग वन्दे मातरम् और जयहिन्द का घोष करते हैं। कांग्रेस के समय के बड़े—बड़े घोटाले तथा राबर्ट वाड्रा जैस बर्तन बेचने वाले को रातो रात लख पति बना देना। समाज की बुराई से देश को बचाना आसान काम नहीं है। भारत में जातिगत गन्दी राजनीति है। मुस्लिम नेता औवैसी, काजमी, उ0प्र0 का मंत्री आजम खॉ देश के प्रधानमंत्री को खुले मंच से गालिया बकते है और मारिशस या आयरलैंड के बच्चे माननीय मोदी से मिलने पर संस्कृत भाषा में वन्दना तथा देश गीत गाते है। आज भारत की सभी भ्रष्ट पार्टियां मिलकर मोदी जी के खिलाफ आवाज उठाती हैं, जो बहुत शर्मनाक है। हम आप के दिल्ली वाले कार्यक्रम में व्यक्तिगत परेशानी की वजह से नहीं आ पाये। आप से प्रार्थना कि आप जिनके पास ज्ञान तत्व पत्रिका आती है उनको प्रत्येक प्रदेश की राजधानियों में जैसे लखनउ, पटना, भोपाल, छ0ग0 में बुलावें, और संस्कृति और संस्कार का कार्यक्रम रखें जैसे स्वामी दयानंद सरस्वती और आचार्य विनोवा भावे करते थे। इसमें अवश्य ही सफलता मिलेगी। आपका यह कार्य अवश्य ही सराहनीय है।

**उत्तरः**—संस्कार और संस्कृति एक ही अर्थ में होते है। संस्कार व्यक्ति का होता है और संस्कृति समूह की। आपने राजनीति का जो विश्लेषण किया है उससे मैं सहमत हूँ। किन्तु आपने नरेन्द्र मोदी की तुलना स्वामी विवेकानंद से करने में बहुत अतिशयोक्ति का सहारा लिया। नरेन्द्र मोदी की तुलना गॉधी से भी नहीं की जा सकती। पहली बात तो यह है कि अभी नरेन्द्र मोदी के कार्य को देखते हुए एक ढेड़ वर्ष ही बीता है, और अभी बहुत समय बाकी है। दूसरी बात यह भी है कि स्वामी विवेकानंद राजनेता नहीं थे, कलाकार नहीं थे, साहित्यकार भी नहीं थे, बल्कि विचारक थे। जबकि नरेन्द्र मोदी में विचारक के कोई गुण अभी तक नहीं दिखे। ईमानदार होना

और अच्छा प्रशासक होना, चरित्र का मापदण्ड हो सकता है किन्तु विचारों की नहीं। फिर भी मैं इस बात से सहमत हूँ कि नरेन्द्र मोदी ने ढेड़ वर्ष में ही उम्मीद से कई गुना अच्छे काम किये है।

आपने सलाह दी है कि हम अपने साथियों को बुलाकर संस्कृति और संस्कारों की ट्रेनिंग दें, जैसा स्वामी दयानंद सरस्वती, और विनोबा भावे करते थे। मैं स्पष्ट कर दूँ कि मैं एक विचारक हूँ और मेरा काम अनुसंधान करके निष्कर्ष समाज तक पहुँचाने तक सीमित है। आगे का काम आप सबका है, मेरा नहीं? यदि विश्वामित्र राम सरीखे व्यक्ति का निमार्ण न करके स्वयं युद्ध में लग जाते तो परिणाम अच्छे नहीं होते। फिर भी मैं स्पष्ट कर दूँ कि मैं संस्कार और संस्कृति की सुरक्षा में सक्रिय नहीं हूँ। भारत में संस्कार और संस्कृति की रक्षा में लगे लोगों की बाढ़ आई हुई है। किन्तु मैं समझता हूँ कि राज्य और समाज के बीच अधिकारों की असमानता जिस सीमा तक बढ़ती गई है, और बढ़ते–बढ़ते वोट देने के अधिकार के अतिरिक्त सारे अधिकार संसद ने अपने पास समेट लिए है, उस स्थिति में मैं गुलामी से मुक्ति के कार्य को अधिक महत्व दे रहा हूँ। आशा है, आपका सहयोग मिलेगा।

## (2) कौशल किशोर, हाजीपुर, बिहार, ज्ञान तत्व 24117

**प्रश्नः**—चार विषयों पर आधारित सामाजिक परिर्वतन की योजना वास्तव में सफल हो जाये तो, फिर क्या कहने? मैं पूर्णतः सहमत हूँ। ऐसा लगता है कि आर्थिक आजादी के मुखर स्वर श्री रोशनलाल अग्रवाल व श्री प्रमोद वात्सल्य की न्यूनतम दो हजार रु. मासिक भत्ता को आपने अपनी सामाजिक क्रांति में स्थान दे दिया है। मेरी अल्पमति 'ग्राम सभा सशक्तिकरण' को ही संसद और संविधान का संतुलन व वर्तमान समाधान के रुप में देखती है। यदि सर्वप्रथम इसे ही सुदृढ़ सशक्त और सतत् सक्रिय बनाया जाए भारत भर में तो, अधिक अच्छा होता। खैर विभिन्न विषयों के प्रस्तुतिकरण से कार्य विस्तृत तो, हो जाते है, किन्तु समाधान बिखराव की तरह नजर आता है। अब तो 'ज्ञानतत्व' आकाश कुसुम सा हो गया है। मिलती ही नहीं पत्रिका। आपके संग 27.12.2014 को रामानुजगंज से अम्बिकापुर पहुंचा तो, संयोग से 1–15 अप्रैल 2014 अंक 288 बनारस चौक स्थित कार्यालय के फर्श पर पत्रिका देखी जिसमें ज्ञानहीन सक्रियता और ज्ञानवान निष्क्रियता के संकट क्यों पर आपका उत्तर पढ़ां?

आपने उत्तर में जो लिखा उसमें मेरी सहमति नहीं है क्योंकि मेरा मानना है कि अव्यवस्था के लिए तंत्र की अपेक्षा लोक अधिक जिम्मेदार है। क्योंकि लोक का ही एक हिस्सा तंत्र बनता है जो संविधान सम्मत नियमों के पालन का दुरुपयोग करता है। मैं सहमत हूँ कि तंत्र के विरुद्ध भ्रष्टाचार अभियान चलाना गलत नहीं है, किन्तु 'लोक' को भी अपने गिरेबान में झॉकना चाहिए। 'लोक' व्यवस्था परिवर्तन के वजाय 'सत्ता परिवर्तन 'तक ही रुक जाता है, आखिर क्यों? जितने परिवर्तन हुए सत्ता प्राप्ति के लक्ष्य तक विरत हो गये। इसका दोषी कौन? संसद संविधान से बड़ी है या पूरक, एक व्यापक विमर्श का विषय है। लोकनायक के 'समग्र क्रांति' का क्या होगा? तंत्र से लोक का टकराव इतना बढ़ जाए कि तंत्र जनप्रतिनिधियों को वापस बुलाने का अधिकार राईट टू रिकाल विधेयक पारित करें।

**उत्तरः**—मैं आपके इस सुझाव से सहमत हूँ कि ग्राम सभा सशक्तिकरण को अधिक महत्व देकर आन्दोलन किया जाये। किन्तु मैं आपकी इस बात से सहमत नहीं, कि रोशनलाल अग्रवाल या प्रमोद वात्सल्य जी के दो हजार रु. जीवन भत्ता से प्रभावित होकर उस मुद्दे को चौथे क्रमांक में रखा गया है। सच्चाई यह है कि मैं श्रम, बुद्धि, और धन के बीच श्रम की दुर्गति से चिंतित हूँ। मेरा उद्देश्य यह है कि कृत्रिम ऊर्जा की भारी मूल्य वृद्धि कर दी जाये जिससे श्रम की मॉग और मूल्य बढ़े, और श्रम के साथ न्याय हो। श्रम के साथ न्याय का दूसरा अर्थ यह होगा कि बुद्धिजीवियों और पूँजीपतियों के साथ कुछ अन्याय होगा। मैं इस अन्याय से भी सहमत हूँ। उक्त टैक्स से संकलित धन मैं राजकोष में जमा करने के पक्ष में नहीं हूँ क्योंकि उससे तो राज्य और अधिक शक्तिशाली हो जायेगा। इसलिए मेरा सुझाव है कि गरीब, ग्रामीण, श्रमजीवी के उत्पादन और उपभोग की सारी वस्तुओं को टैक्स फ्री कर दिया जाये और उसके बाद भी जो धन बचे वह आधी निचली आबादी में बराबर–बराबर बॉट दिया जाये जो दो हजार रु. के करीब होता है। राइट टू रिकाल का प्रस्ताव तंत्र को कमजोर और लोक को मजबूत करेगा न कि जैसा आपने लिखा है। मैं लोक सशक्तिकरण के लिए राईट टू रिकाल को भी एक उचित माध्यम मानता हूँ भले ही वह ग्राम सभा सशक्तिकरण, परिवार के संवैधानिक अधिकार और लोक संसद की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण है।

## (3) शिवदत्त बाघा, बांदा, उ0प्र0, ज्ञान तत्व 7880

**प्रश्नः**—आपने देश दुनिया को एक उम्दा विचार दिया। सरकार नहीं व्यवस्थापक। अब इसके आगे अपने अन्य समर्थकों, सहयोगियों के विचारों को जानने समझने की जरुरत थी ऐसा मेरा मत है। व्यवस्थापक की अवधारणा

उतनी ही सच है जितनी इस जगत का होना सच है। कभी किन्ही पलों में मानव समाज के मन में यह विचार आया होगा कि कोई ऐसा हो जो अशान्ति के विपरीत शांति की मशाल जलाने के लिए आगे आये और समाज इस रोशनी में अपने जीवन की गाड़ी चलाए व खुद को महफुज समझे। कालान्तर में शांति के मशालची ने कैसे–कैसे रुप बदले। अब जब सबेरा हुवा जागे या आपने जगाया तब जागे। आप का काम जगाना वह आपने किया आगे का काम जागने वाले देखे, निर्णय लें, जागना–जगाना सही है या गलत।

इस दुनिया में गॉधी ने अद्वितीय, साम्राज्यवाद से लोहा लेने में अपनी खुद की खोज का प्रयोग किया, किसी की नकल नहीं की। ट्यूनीशिया, मिश्र, लीबिया में जो हुआ उसे क्रांति, परिवर्तन बदलाव कहना सही नहीं है और भी इस तरह से जहॉ भी जो रहा है वह सिर्फ कुर्सी दौड़ है। संसार का बुद्धिजीवी वर्ग दुनिया के धूर्तों व बदमाशों के साथ खड़ा हो गया है और आम जन मानस को इस प्रकार की घटनाओं को लेकर भ्रमित करता रहता है। इस भ्रम के आवरण में एक धूर्त के बाद दूसरा धूर्त आता है, कुर्सी संभालता है, पर जन समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रहती है। जिस शांति की खोज में समस्याओं के निर्मूलन की आशा में किसी के होने की आशा की गयी थी आज उस आशा, विश्वास का क्या हुआ? कहने की जरुरत नहीं कि आज समाज के उस आशा विश्वास का गला घोट दिया गया है और मशालची मसाल बुलाकर खुद ही दैत्य बन गया है और समाज देश दुनिया को भयभीत कर रहा है। यानी आज के युग की जो सबसे बड़ी समस्या है वह दुनिया भर में फैली हुकूमतें खुद ही है। ये ही वे मशाल जलाकर दैत्य बनकर दुनिया को डरा रहे है। इन्हीं को आपकी एक व्हिसिल है, सरकार नही व्यवस्थापक, शासक नही मैनेजर।

गॉधी जी ने साम्राज्यवादियों से सिर्फ कहा, अंग्रेजों भारत छोडों। देश हमारा है आगे हम मिलकर बैठकर देखेंगे, तय करेंगे देश कैसे चलाना हैं। नहीं देश छोड़ते तो तुम्हारा असहयोग है तुम्हारा वायकाट हैं। व्यवस्था परिर्वतन आन्दोलन आपकी कार्य योजना का नाम अवश्य है किन्तु दृढ़ निश्चय का अभाव है। इसलिए सब गडमगड है। दो कदम आगे दो कदम पीछे की स्थिति है। जब तक रास्ता स्पष्ट न हो और मन दृढ़ न हो किसी को प्रेरित कैसे किया जा सकता है। यह तो बाद में तय होगा कि देश को कैसा संविधान चाहिए। संसद लोक नियंत्रित हो या लोक नियुक्त। आज की व्यवस्था के साथ घालमेल छोटी–बड़ी मांग, संविधान संशोधन का संतोष, परिवर्तन की भावना को कुंद करने वाले हैं। ऐसा मेरा विचार है किन्तु विचार थोपना और संगठनों में नियुक्ति की प्रक्रिया ही तानाशाही को जन्म देती है और केजरीवाल भी इस प्रवृत्ति से नहीं बच पाए। संगठन को दीर्घजीवी बनाने के लिए इस प्रवृत्ति से बचा जाना चाहिए। अंग्रेजों भारत छोड़ों की तर्ज पर हमारा नारा होना चाहिए, लुटेरों कुर्सी छोड़ो कि व्यवस्थापक आता है।

लेकिन आपने तामगाडगे जी के उत्तर में लिख दिया कि आगे से संवाद बंद, यह दुखद स्थिति है। क्या तामगाडगे जी से संवाद न रखा जायें। मैं मानता हूॅ कि समाज की वर्तमान पीढ़ियों से मुक्ति के लिए हुकुमतें आयी और हुकुमतों ने पीढ़ियों को और बढाया। मानव इतिहास में हुकुमतों के संदर्भ में एक व्यवस्थापक का विचार प्रस्फुटित हुआ, फिर भ्रम की स्थिति क्यों? इस विचार के अतिरिक्त अन्य मुद्दों पर चर्चा बेमानी है, समय का दुरुपयोग है। आपके विचार मंथन से निकले इस रत्न को यदि कोई अन्य अथवा आप स्वयं हल्के से ले रहे है तो इससे बड़ी नादानी और कोई नहीं।

**उत्तरः**—व्यवस्थापक की अवधारणा को आपने गहराई से समझा। इससे मुझे संतोष हुआ। मैं एक साधारण व्यक्ति हूॅ तामगाडगे जी ने जो कुछ लिखा, उसमें हिंसा का भाव था, विचार मंथन का नहीं? मैंने संवाद बंद करना इसलिए उचित समझा कि मैं कोई पूर्ण व्यक्ति नहीं हूॅ जिसने काम, क्रोंध, लोभ, मोह मद पर विजय प्राप्त कर ली हो। मान लीजिए कि चर्चा के क्रम में मुझे कही क्रोध आ गया और मैंने क्रोध में कोई अवांछित शब्द लिख दिया तो तामगाडगे जी का नुकसान कम होगा और मेरा ज्यादा। इसलिए ऐसी चर्चाओं से बचना चाहिए। किन्तु आपकी दूसरी सलाह कि मुझे व्यवस्थापक के विचार के अतिरिक्त अन्य विषयों पर चर्चा करनी ही नहीं चाहिये, विचारणीय है। आपका विचार और सलाह पूरी तरह ठीक है किन्तु वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर कार्य करना है। व्यवस्थापक का सारा काम दिल्ली कार्यालय ने अपने जिम्मे ले लिया है और उसमें मेरी किसी प्रकार की कोई भूमिका नहीं है। मेरे जिम्मे में तो सिर्फ एक काम है कि मैं अपनी उम्र का शेष समय विश्वस्तरीय असत्य प्रचार को चुनौती देने में लगा दूॅ। इसका अर्थ हुआ कि मुझे वर्तमान में प्रचारित असत्य धारणाओं को वैचारिक आधार पर चुनौती देकर सत्य को आगे लाना है। यह कार्य व्यवस्थापक की अवधारणा से बिल्कूल अलग है। मैं अपने कार्य में

लगा हूँ और हमारे देश भर के साथी व्यवस्थापक की अवधारणा को स्थापित करने में जोर शोर से लगे है मैं समझता हूँ कि आप मेरी स्थिति को समझेंगे।

## (4) के0 डी0 नागर, एडवोकेट, जयपुर, राजस्थान, ज्ञानतत्व 50812

**प्रश्नः**— यद्यपि मैं बहुत व्यस्त रहता हूँ किन्तु फिर भी ज्ञानतत्व समय निकालकर अवश्य पढता हूँ। मैं जब पत्रिका पढता हूँ तब मुझे अकसर डॉ0 राम मनोहर लोहिया की याद आ जाती है जिन्हें मैंने 1966 में भरतपुर में सुना था। आप अपने नाम के अनुरुप ही कार्य कर रहे है और इसके लिए आप बधाई के पात्र है।

**उत्तरः**— सच बात यह है कि मैंने भी 1966 में ही बिहार के झारखण्ड में डॉ0 लोहिया का भाषण सुना था। उस भाषण का मेरे ऊपर जो प्रभाव पड़ा उसके अंश अब तक मजबूती से मेरी सोच में स्थापित है। मैं प्रारंभ में समाजवादी पार्टी में ही था किन्तु हमारे प्रदेश में समाजवादी पार्टी का कमजोर ढॉचा था। लोहिया जी के विचारों से मैं सबसे अधिक इस बात से प्रभावित हुआ कि खान्दानी शासन सबसे अधिक घातक है तथा पंडित नेहरु लोकतंत्र को व्यक्तिगत स्वामित्व तथा केन्द्रीय करण की दिशा में ले जा रहे है जो गॉधी विचार के बिल्कूल विपरीत है। मैं गैर कांग्रेसवाद से प्रभावित होकर भारतीय जनता पार्टी में शामिल हुआ। किन्तु वहॉ भी मैं लोहिया के विचारों को प्राथमिकता देता था। जब इंदिरा गॉधी की हत्या हुई उसी दिन मैंने यह मान लिया कि अब मेरा राजनैतिक कार्य समाप्त हुआ और मुझे अब नई दिशा में जाना चाहिए। मैं समझता हूँ कि अगर डा0 लोहिया भी गैर कांग्रेसवाद छोड़कर परिवर्तन की दिशा में बढ़े होते तो अधिक अच्छा होता। वास्तव में पंडित नेहरु की जो सोच थी वह उनकी व्यक्तिगत बुराई न होकर राजनीति की बुराई थी जो बाद में लालू, मुलायम या देश के अन्य नेताओं तक में दिखी। और उस बुराई से संघ परिवार भी किसी तरह अछूता नहीं रहा। इसलिए मैं यह मान रहा हूँ कि गॉधी, लोहिया, जयप्रकाश के बाद उस दिशा में बढ़ना हम सबका कर्तव्य है।

## 4.ओमप्रकाश, प्रकाश, इस्माइलपुर, बाराबंकी, उ0प्र0, ज्ञानतत्व—7907

**प्रश्नः**—आज देश की राजनीति में कुछ घटनाओं को लेकर असहिष्णुता का हो हल्ला छाया हुआ है। जिसमें निशाना केन्द्र सरकार, विशेषकर प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी को बनाया जा रहा है। असहिष्णुता का प्रलाप करने वाले इस सवाल पर चुप हो जाते है कि सहिष्णुता की अधिकतम सीमा क्या है? उन्होंने सन् 1984 में सिखों का कत्लेआम, जम्मूकश्मीर में पंडितों की हत्या एवं पलायन जैसी कई गम्भीर घटनाओं पर क्या किया? तब वे कहॉ थे? आज दादरी सहित कुछ घटनाएँ दुखद हैं जिन्हें कुछ ना समझ जोशीले अथवा असामाजिक तत्वों द्वारा अंजाम दिया गया। जिसकी जिम्मेदारी पूर्णतया राज्य सरकार की है, फिर भी गलत लोगों व राज्य सरकारों को छोड़कर सीधे केन्द्र सरकार को निशाने पर लेना समझ से परे है।

यहॉ पर यह चर्चा भी आवश्यक है कि इस असहिष्णुता के शोर में सहिष्णुता को नजरअंदाज कर दिया गया। बहस इस पर भी होनी चाहिए कि सहिष्णुता की अधिकतम सीमा क्या हो? किसी व्यक्ति या वर्ग को किसी बात को लेकर कष्ट या दुख होता है तो सामने वाले पर इसका नियंत्रण भी आवश्यक है कि वह अमुक बात के प्रति कहॉ तक संयम रखे। ऐसे में कश्मीर के एक विधायक द्वारा चौराहे पर बीफ कटने के साथ हर चौराहे पर बीफ बॉटने, कर्नाटक के मुख्यमंत्री जैसे लोग सीना ठोक कर गोमांस खाने का दावा करना कहॉ तक उचित है। सरकार सिर्फ एक पक्ष को कब तक सहिष्णुता का पाठ पढ़ायेगी? इसी देश में भगवान श्री कृष्ण भी शिशुपाल की एक सौ गलती तक ही क्षमा कर सके थे। मर्यादा पुरुर्षोत्तम श्रीराम ने भी तीन दिन अनुनय विनय के बाद अहंकारी सागर पर वार करने का निश्चय कर लिया था। अब आम आदमी से लगातार क्षमा करते या सहिष्णुता बरतते रहने की उम्मीद कैसे की जा सकती है? जरुरत इसकी है कि पक्षपात पूर्ण कार्यवाही त्यागकर असहिष्णुता पर विवश करने वालों पर भी अंकुश लगाया जायें। अन्यथा शिखण्डी की तरह हाथ पर हाथ रखकर पीड़ित लोग कब तक कष्टप्रद स्थिति देखते सुनते रहेंगे। इस प्रकरण पर सम्मान वापस करने वालों को देश या किसी पक्ष की चिन्ता नहीं बल्कि उनकी सारी कार्यवाही पक्षपात पूर्ण, स्पष्ट सुर्खियों में बने रहने की है।

**उत्तरः**— असहिष्णुता के वातावरण का हल्ला ठीक नहीं, इस बात से मैं सहमत हूँ किन्तु इसका यह अर्थ नही कि मेरे जैसे तटस्थ व्यक्ति को भी इस वातावरण में प्रश्न करने का अधिकार नहीं है। यह सही है कि मोदी सरकार के पूर्व एक पक्ष विशेष द्वारा असहिष्णुता का एक पक्षीय प्रदर्शन किया जा रहा था, और मोदी सरकार के आने के बाद दूसरा पक्ष उसी भाषा में उत्तर देना चाहता है। क्या यह उचित है? क्या हम कोई कानून बनाकर असहिष्णुता के वातावरण को बिना स्वयं कानून हाथ में लिये नहीं रोक सकते। कृष्ण एक क्षत्रिय थे और उन्होंने क्षात्र धर्म का पालन किया। दूसरी बात यह है कि उस समय लोकतंत्र नहीं था। तीसरी बात यह है कि उस समय अपराधियों का शासन था। वर्तमान समय की उस समय से तुलना गलत है क्योंकि वर्तमान लोकतांत्रिक वातावरण में समाज की सहनशीलता की कोई सीमा निर्धारित करने की आवश्यकता नहीं हैं। वह सीमा तो राज्य अपनी निर्धारित करेगा। आप भारत में तो इतनी छोटी बातों पर भी सहिष्णुता की सीमा बना रहे है और दूसरी ओर आई.एस.आई.एस के

लिए चुप है जबकि वह मामला सीमा पार तक चला गया है। सहिष्णुता की सीमा क्या हो और उस सीमा के पार जाने वाले को किस तरह रोका जाये इसका निर्णय और रोकने का काम क्या हमें ही करना उचित है। क्या हमें इस कार्य के लिए किसी व्यवस्था का सहारा नहीं लेना चाहिए? क्या मजबूत को कमजोर के विरुद्ध स्वयं निर्णय करने का स्वाभाविक अधिकार होना चाहिए? यदि किसी व्यक्ति को दुख होता है और उसे दुख देने में सामने वाले की प्रत्यक्ष भूमिका है तो यह कैसा हिन्दुत्व है कि हम उसे सीधा दण्ड दें। यदि कश्मीर के किसी विधायक ने चौराहे पर गोमांस खाया तो क्या हम बिना किसी कानून के उसे दण्डित करने को उचित मान लें। यदि ऐसा हुआ तो इस्लाम, साम्यवाद और हिंदुत्व के बीच क्या अंतर रह जायेगा? हम कैसे अन्तर कर पायेंगे कि सामने वाले का कार्य चोटी वाले हिन्दू जैसा है या चोटी वाले मुसलमान जैसा। स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति की पहचान का मुख्य आधार उसकी कार्यप्रणाली ही होता है। श्री कृष्ण ने सौ गलतियों के बाद शिशुपाल को दण्ड दिया था। क्या हम मान ले कि अब गलतियॉ 99 पार हो गई है। यदि आप जैसा साथी 10वी गलती से ही कृष्ण को दण्ड देने के लिए उत्तेजित करना शुरु कर देता, और 25 गलती होते तक गाली देना शुरु कर देता, तो कृष्ण वह सम्मान नहीं पाते जो उन्हें मिला। मैं नहीं समझता कि आज नरेन्द्र मोदी सरीखे प्रधानमंत्री पर भी हमें इतना विश्वास नहीं है कि हम उन्हें गलतियों की संख्या गिनने दें। मैं चाहता हूँ कि हम हिन्दू है और हिन्दुत्व की परिभाषा को बदलने में जल्दबाजी न करें, और अपनी बनी बनाई व्यवस्था पर विश्वास करें।

## नाथू राम का महिमा मंडन

नवम्बर के इसी सप्ताह गॉधी की हत्या करने वाले नाथूराम गोडसे की फांसी की वर्षगाठ हुई। पता चला कि कुछ हिन्दू महासभा के लोगों ने गोडसे के इस कृत्य की प्रशंसा में विचार व्यक्त किये। इस मुद्दे पर संघ के एक पदाधिकारी ने हिन्दू महासभा के इस कार्य की आलोचना की।

मैं हमेशा से मानता रहा हूँ कि नाथूराम गोडसे ने गॉधी की हत्या का जो कुकर्म किया वह किसी भी परिस्थिति में उचित नहीं ठहराया जा सकता। गोडसे का कार्य हिन्दुत्व से पूरी तरह विपरीत था, कायरों के समान था, तथा देश और समाज को लम्बी क्षति पहुँचाने वाला था। गोडसे ने जिस विचार धारा से प्रभावित होकर यह कृत्य किया उस विचारधारा का अब तक भारत में अस्तित्व है। यह हम सबके लिए विशेषकर हिन्दुओं के लिए शर्म का विषय है। मेरा तो मत है कि जिस तरह दशहरे के दिन प्रतिवर्ष रावण को जलाकर नई पीढ़ी को एक संदेश दिया जाता है, उसी तरह प्रतिवर्ष गोडसे को भी प्रतीकात्मक फांसी का आयोजन करके नई पीढ़ी को यह संदेश दिया जाये कि वह ऐसे जहरीले प्रयास से बचे रहें। मैं मानता हूँ कि गोडसे स्वयं संचालित नहीं था और किसी अन्य विचार धारा के प्रभाव में आकर उसने ऐसा कुकृत्य किया। फिर भी चूंकि यह कुकृत्य गोडसे के द्वारा किया गया, इसलिये फांसी तो गोडसे को ही होनी थी। भले ही गोडसे को प्रेरणा देनेवाले वर्ग का भी इतिहसर कलंकित क्यो न रहे। जहां तक संघ का सवाल है तो संघ और हिन्दू महासभा में आसमान जमीन का फर्क है। हैं तो दोनों ही साम्प्रदायिक विचारों से ओत प्रोत किन्तु हिन्दू महासभा जिस सीमा तक आगे जाकर आतंकवाद का समर्थन करती है, संघ उस सीमा तक कभी नहीं जाता। मैं जानता हूँ कि संघ के लोगों ने कभी गांधी विचार को पसंद नहीं किया। किन्तु यह भी सच है कि नापसंद होते हुए भी संघ ने कभी गांधी हत्या का समर्थन नहीं किया। वैसे वर्तमान मे संघ ने जो प्रतिकिया दी है वह ठीक होते हुए भी अपर्याप्त हैं। वास्तव में तो संघ जब तक गोडसे के कृत्य की स्पष्ट निंदा नहीं करता तब तक संघ बेदाग नहीं कहा जा सकता। यह कहना पर्याप्त नहीं है कि गोडसे को ऐसा नहीं करना था अथवा गोडसे संघ का स्वयं सेवक नहीं था। आज भी संघ के कार्यकर्ता प्रत्यक्षरूप से गांधी को सम्मान देते है और अकेले में उनकी हत्या की आलोचना करते हुए भी किन्तु परन्तु लगाकर गांधी का अप्रत्यक्ष विरोध करते है।

## दलाई लामा की हिन्दुत्व की प्रशंसा

दलाई लामा ने बिहार चुनाव की समीक्षा करते–करते यह टिप्पणी की कि बिहार चुनाव से यह स्पष्ट हुआ है कि हिन्दू एक शान्ति प्रिय समूह है। मेरे विचार में दलाई लामा ने जो कुछ कहां वह बिल्कुल सही बात है। बिहार चुनाव में साम्प्रदायिक जहर फैलाने वालों से प्रभावित हुए बिना बल्कि कुछ हद तक उस जहर के विरूद्ध मत देकर हिन्दुओं ने हिन्दुत्व को गौरवान्वित किया है। दलाई लामा की इस टिप्पणी का सम्मान किया जाना चाहिये। अब कम से कम साम्प्रदायिक मुसलमानों के विषय में दलाई लामा से यह प्रश्न किया जा सकता है कि हिन्दुओं के विषय में तो उन्होंने अपनी धारणा स्पष्ट कर दी है किन्तु मुसलमानों के बारे मे भी अपनी धारणा स्पष्ट करनी चाहिये। वैसे अप्रत्यक्ष रूप से तो उन्होंने हिन्दुओं के बारे में कहकर मुसलमानों के विषय में भी कह ही दिया है।

कुछ नासमझ कट्टरवादी हिन्दुओं ने दलाई लामा की टिप्पणी को नसमझने के कारण विरोध किया और यहां तक कह दिया कि दलाई लामा को भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। सच बात तो यह है कि साम्प्रदायिक विचार वालों के पास सोचने समझने की शक्ति तो होती नहीं है और कभी भी कुछ भी बोलकर उपहास के पात्र हो जाते है। दलाई लामा ने बिहार चुनाव के संबंध में हिन्दुओं की प्रशंसा कर दी तो बुरा तो मुसलमानों को मानना चाहिये था किन्तु इसका बुरा कोई हिन्दु अगर मानने लग जाये तो वह दया का पात्र ही हो सकता है। मैं दलाई लामा की इस टिप्पणी से गौरव महसूस करता हूँ।

# खुदरा समाचार

(1) समाचार है कि कर्नाटक में टीपू सुल्तान को प्रतिष्ठित किये जाने के विरोध में आयोजित आंदोलन में भारतीय जनता पार्टी के एक पदाधिकारी सहित तीन लोगों की मृत्यु हो गई।

**समीक्षाः**—व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा में होने वाले किसी टकराव में किसी व्यापारी की मृत्यु हो जाये तो वह समाज के लिए कोई विशेष चिंता की बात नहीं है।

(2) खबर है कि पूर्व सैनिकों ने अपने आंदोलन को तेज करते हुए अपने पदक तक वापस करने शुरु कर दिये है।

**समीक्षाः**—जब पूरे देश में पद प्राप्त अनेक वर्गो ने दोनों हाथों से लूट मचा रखी है तो पद की जगह पदक प्राप्त सैनिक ऐसी लूट में भी चुपचाप तमाशा क्यों देखते रहे और क्यों न अपना हिस्सा लेने का प्रयास करें।

(3) समाचार है कि फ्रांस के पेरिस शहर में हुई जघन्य हत्याओं पर टिप्पणी करते हुए आजम खान और **मणिशंकर** अयर जैसे भारतीय नेताओं ने बहुत आपत्तिजनक बयान दिये है।

**समीक्षाः**—आप आजमखान, मणिशंकर अय्यर, अपूर्वानंद, सुब्रमण्यम स्वामी, साक्षी महाराज, योगी आदित्यनाथ जैसे साम्प्रदायिक तत्वों से और अधिक उम्मीद क्यों करते है।

(4) प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने आतंकवाद के समाधान के रुप में सूफीवाद को प्रोत्साहित करने की सलाह दी है।

**समीक्षाः**—आजम खान जैसों को यह सलाह पसंद आवे तब न।